अंतिम दशक की हिंदी कविता का वैचारिक परिदृश्य

डॉ. रवीन्द्र नाथ मिश्र

आज साहित्य में विचार रास्ते में मिले पुराने साथी की भाँति-कुछ पल के लिए हमारे मन-मस्तिष्क को कुरेदकर बिछुड़ जाते हैं। साहित्य में श्रेष्ठ विचारों की वर्षा न होने के कारण हम उन्हें यादों के धुन्ध बादलों में खोजते हैं। यह बात 'रामचरितमानस', 'कामायनी', 'गोदान', 'राग दरबारी', मैला आंचल' आदि कालजयी कृतियों के संदर्भ में नहीं कही जा सकती। इन रचनाकारों के अनुभवों की जड़ें काफी गहराई तक गई हैं। वस्तुतः परिवेशगत जड़ों तक पहुँचकर ही साहित्य में जीवन रस घोला जा सकता है। जीवन रस के मंथन से ही विचारों का अमृत प्राप्त होता है। विचार से ही जीवन के प्रति एक ठोस दृष्टि बनती है। विचारधारा लेखक के विजन या व्यापक समझ के निर्माण में भरपूर सहायक होती है। रचनाकार अपनी अनुभव भूमि के अनुसार ही कृति को जन्म देता है।

आज साहित्य में विचारों का आग्रह बढ़ा है। यह निबंध और कुछ हद तक कथा साहित्य के लिए अनुकूल हो सकता है, लेकिन कविता के लिए नहीं। भाव कविता की मूल पूंजी है। विचारों की अधिकता से उनकी संवेदना का क्षरण होता है। प्रयोगधर्मी रचनाकारों द्वारा कविता में नए-नए प्रयोग करने से उसकी संप्रेषणीयता और पठनीयता को ठेस लगी।

दरअसल आजादी के बाद विज्ञान ने जिस तरह हमारी जीवन-शैली की पवित्रता और धार्मिक मानवीय मूल्यों को क्षति पहुँचाई, उसी प्रकार उसने साहित्य में भी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। यहीं से कविता में भाव और बुद्धि का संतुलन बिगड़ा। 'कामायनी' में जीवन के संदर्भ में भी इसकी विशद एवं गहन चर्चा की गई है।

परिवेशगत बदलाव के साथ-साथ कविता की विषय वस्तु, भाषा और तकनीक के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग होने लगे। सदी के अंतिम दशक तक आते-आते कुछ इस प्रकार की परिस्थितियां बनीं कि मूल्य और विचार भी बिकने के लिए अभिशप्त हो गए, जिन्हें कि हम जीवन का आधार मानते थे। पावर और मसल के समक्ष वैचारिक संवेदना लूली और लंगड़ी हो गई। भूमंडलीकरण और बाजारवाद की हलचलें जितनी तेज हुईं, उसी गति से मानवीय चिंता का लोप हुआ। सच तो यह है कि न चीखें सुनी गईं और न आहें, सिर्फ अपनी कूटनीति, स्वार्थ और अहंकार को देखा गया। कवि राजेन्द्र नागदेव ने ठीक ही लिखा है-

लोग गिर रहे हैं।
लोग गिरा रहे हैं ;
लोग टकरा रहे हैं,
लोग हवा में, हाथ और पाँव चला रहे हैं।
यह तो होना ही था।
ये मात्र धड़ हैं, सिर-विहीन
और इनकी छाती में छिद्र हैं,
जिनके आर-पार तुम साफ देख सकते हो।
(गगनांचल-99, अंक 2)

धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिक विद्वेष, आतंकवाद, तकनीकी सूचना प्रौद्योगिकी, सूचना, प्रौद्योगिकी और सत्ताकांक्षी राजनीति के कारण समूचा वैचारिक परिदृश्य इस तरह से गड्ड-मड्ड हो गया कि साहित्य सर्जन की कोई खास पहचान नहीं बन सकी। आज राजनीति, विज्ञान और बाजारवाद का युग है, धर्म का नहीं। पहले धर्म के द्वारा राजनीति, संस्कृति और कला की परख की जाती थी। अब वह स्थान राजनीति ने ले लिया है। लुकाच का कथन है- 'वर्तमान युग में मानव-नियति को राजनीतिक परिभाषाओं में ही समझा जा सकता है। वस्तुतः राजनीति हिन्दी साहित्य को एक लम्बे अरसे से प्रभावित करती आ रही है और अब तो हावी हो गई है। व्यवस्था विरोध तो समकालीन कविता की खास प्रवृत्ति रही है। रघुवीर सहाय, सक्सेना, श्रीकांत वर्मा, धूमिल आदि कवियों की कविताओं में राजनीतिक स्वर प्रमुख रहा है।

सन् 60 से 90 के आसपास तक आपातकाल, सिखउग्रवाद आपरेशन ब्लूस्टार, इंदिरा गांधी की हत्या, राजनीति में भाई-भतीजावाद, भोपाल गैस त्रासदी, दलित एवं नारी शोषण सती-प्रथा एवं प्रेम-प्रसंगों को लेकर दी गई हत्याओं, भ्रष्टाचार साम्प्रदायिक हिंसा, आतंकवाद आदि घटनाओं, विचारों और असंगतियों के फलस्वरूप देश का सम्पूर्ण वैचारिक परिदृश्य ही बदल गया। सातवें, आठवें और नवें दशक में रचनारत वयोवृद्ध, प्रौढ़ और नवयुवक कवियों ने अपनी-अपनी रचनाओं में तत्कालीन परिवेश को जीवंत बनाया।

सदी के अंत का जो परिदृश्य बना, उसमें वित्तीय पूंजी के विकास ने मुक्तभोग, स्वायत्तता, स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया, जिसके कारण हमारी सांस्कृतिक विचारधारा को धक्का लगा। इस समय वैचारिक एवं संवेदनात्मक स्तर पर अत्यंत बौने हो चुके मनुष्य के और अधिक बौने होने की पीड़ा कवियों की प्रमुख चिंता रही है। कविता में व्यक्त होने वाली नैतिक संवेदना हाशिए पर चली गई। भाव का स्थान बुद्धि ने ले लिया। विभिन्न विधाओं के मूल स्वरूप का संक्रमण होने के कारण भी कविता का वैचारिक परिदृश्य बदला। प्रयोगधर्मी अज्ञेय और समकालीन कवि विनोद कुमार शुक्ल की रचनाओं में इसकी जांच पड़ताल की जा सकती है।

विनोददास 'कठिन समय में कविता' शीर्षक निबंध में लिखते हैं- ''भूमंडलीकरण की तेज आँधी के चलते नई आर्थिक नीति और उदारीकरण ने देश के नब्बे प्रतिशत नागरिकों को बट्टे खाते में डाल दिया है और दस प्रतिशत नागरिकों को बाजार के लिए एक लोभी उपभोक्ता में बदल दिया है। धार्मिक और सांस्कृतिक कट्टरता व्यक्तियों के निजी-जीवन में हस्तक्षेप करते हुए उनकी वेश-भूषा, उनके रहन-सहन, धार्मिक संवेदनाओं और प्रेम सरीखे कोमल संबंधों को निशाना बना रही है।'' (आलोचना जन.-मार्च 01)

मध्ययुगीन या उससे पूर्व के समाज में सामाजिक विषमता, धर्म, जाति के भेदभाव के आधार पर थी, लेकिन उसका स्वरूप कुछ अलग था। आज तो धर्म और जाति को राजनीति से जोड़कर सत्ताप्राप्ति के मार्ग को प्रशस्त किया जा रहा है। राजनीति की वैचारिक शुद्धता के बिगड़ने से तरह-तरह के मानवीय संकट उपस्थित हो रहे हैं। अरूण कमल लिखते हैं।

यह कितनी अजीब ताह है।,
कि आदमी पीपल के सूखे पत्ते की तरह
लोकतंत्र और समाजवाद
दो पन्नों के बीच सुरक्षित है।
मैंने उसकी आँखों को देखा
उसके चेहरे को,
वृक्ष की टहनियों की तरह स्पष्ट
सूखी नसों और उन झुर्रियों को
जिनके लिए सिर्फ यही एक विशेषण
मिला था मुझे जमीन से उखड़ी हुई रेशेदार जड़ें।

दसवें दशक तक आते-आते हिन्दी कविता जीवन के व्यापक एवं गहन आयामों से जुड़ी। जीवन के जितने सारे क्षेत्र, अनुभव और भंगिमाएँ अभी आ रही हैं, उतनी पहले नहीं थीं लेकिन फिर भी कविता की कोई विशेष खास पहचान नहीं बन पा रही है। केदारनाथ सिंह का मानना है-''आज की कविता का अतीत के साथ रिश्ता थोड़ा शिथिल हुआ है और उसमें वह प्रेरकता का तत्व लगभग नहीं रहा, जो इससे पूर्ववर्ती कविता के संदर्भ में होता था। केवल पूर्ववर्ती आधुनिक कविता ही नहीं बल्कि इससे पहले भी हिंदी कविता की एक लंबी परम्परा पाई जाती है, जिसमें चंदबरदाई से लेकर भारतेंदुहरिशचंद्र तक है। कई बार मुझे लगता है कि इस विरासत से आज की हिंदी कविता का रिश्ता लगभग टूट सा गया है।'' वस्तुतः आज की कविता अपने समय और उसमें घटित होने वाली घटनाओं और उसमें पैदा होने वाले चरित्रों से जुड़ी है; जो कि हमारे लिए सूचनात्मक हो सकती है, लेकिन हमारी संवेदनाओं को झकझोर कर गहरा प्रभाव नहीं डाल सकती।

सन् 1990 के बाद प्रकाशित होने वाले कतिपय महत्वपूर्ण कविता-संग्रहों की कविताओं के माध्यम से तत्कालीन वैचारिक परिदृश्य के विविध आयामों की परख की जा सकती है।

'बाघ' (केदारनाथ सिंह) 'बारिश में भीगते बच्चे' (रामदरश मिश्र), 'पत्थर की बेंच', 'उसके सपने' (चंद्रकांत देवताले), 'समय के पास समय' (अशोक वाजपेयी) 'नाटक जारी है', 'ईश्वर की अध्यक्षता में' (लीलाधर जगूड़ी),

'दो पंक्तियों के बीच' और 'धूपघड़ी' (राजेश जोशी), 'सबकुछ होना बचा रहेगा' और 'अतिरिक्त नहीं' (विनोदकुमार शुक्ल), 'रात में हारमोनियम' (उदय प्रकाश), 'नये इलाके में' (अरुण कमल), 'हम जो देखते हैं' और 'आवाज भी एक जगह है' (मंगलेश डबराल), 'सिर्फ कवि नहीं' और 'हम जो नदियों का संगम हैं' (बोधिसत्व), 'बस्स! बहुत हो चुका' (ओमप्रकाश वाल्मीकि), 'दुनिया रोज बनती है' (आलोक धन्वा), 'किवाड़' और 'अतिक्रमण' (कुमार अंबुज), 'गंगातट' (ज्ञानेंद्रपति), 'अन्न हैं मेरे शब्द' और 'मिट्टी से कहूँगा धन्यवाद' (एकांत श्रीवास्तव), 'अकेला घर हुसैन का' और 'कटौती' (निलय उपाध्याय), 'एक संपूर्णता के लिए' (पंकज चतुर्वेदी), 'प्रकाशवर्ष' (संजय चतुर्वेदी), 'संपूर्ण कविताएँ (कुमार विकल), 'मगर एक आवाज' (लीलाधर मंडलोई), 'जोखिम से कम नहीं' (ओमभारती), 'मिट्टी का फल' (प्रेमरंजन अनिमेष), 'कागज के प्रदेश में' (संजय कुंदन) 'दुष्चक्र में स्रष्टा' (वीरेन उंगवाल) आदि काव्य संकलनों के अतिरिक्त और भी कई संग्रह प्रकाशित हुए।

महिला रचनाकारों में 'लौटा है विजेता' (अर्चना वर्मा), 'सात भाइयों के बीच चम्पा' (कात्यायनी), 'किसी उम्मीद की तरह' (मिथिलेश श्रीवास्तव), 'घर-निकासी' (नीलेश रघुवंशी), अनुष्टुप (अनामिका), 'इस अकेले तार पर' (सुनीता जैन), 'हमारे झूठ भी हमारे नहीं' (अमिता शर्मा), 'एक दिन लौटेगी लड़की' (गगन गिल) आदि उल्लेखनीय हैं।

सदी के अंतिम दिनों में भूमंडलीकरण के कारण बाजारवाद, उपभोक्तावाद, साम्प्रदायिक कट्टरता, आतंकवाद, सूचना प्रोद्यौगिकी के अतिरिक्त दलित एवं नारी विमर्श सत्ता प्राप्ति की राजनीति, तथा लोकजीवन में रोजमर्रा के जीवन प्रसंगों पर आधारित अच्छी कविताएं लिखी गईं।

उपभोक्तावाद के संदर्भ में 'कविता का आज शीर्षक' में अरविंद त्रिपाठी का मत है-''समाज में व्याप्त उपभोक्तावाद ने हमारी सहज मानवीय संवेदना को कितना अमानवीय और क्षत-विक्षत कर दिया है कि ऐसा लगता है कि हम सभी बाजार के बीच खड़े हैं, जहां हर आदमी दूसरे आदमी को खर्च कर देने के लिए घात लगाए बैठा है।'' (आलो. जन.-मार्च 01)

दरअसल अंग्रेजी शासन के प्रारंभ में जो कार्य ईस्टइंडिया कंपनी कर रही थी, वह आज व्यापक रूप में बहुराष्ट्रीय कंपनियां कर रही हैं। बाजारवाद की संस्कृति ने किस तरह मनुष्य को खिलौना बना दिया है, इसका अन्दाजा शायद हमारे समाज को नहीं है। पूंजी का खेल खेला जा रहा है, जहां मनुष्य खिलौने की शक्ल में खेल रहा है।

'मालिक वो स्वच्छन्द पूंजी भी/खेलती पृथ्वी समग्र से/ ग्रहों और मंडल से/खनखनाती आ गई है खिलदंड/हमारे आंगन में/ऐन अन्तरिक्ष से उतरकर/कितनी छोटी दुनिया उसके सामने/तीन डगों से नाप/ धरती समूची/आ गई वह बिंदास/हमारी देहरी पर/हक्का-बक्का/हमारी शक्लें/लो हो गई हू-ब-हू खिलौनों सी' (ओमभारती आलो. जन.-मार्च 01)

डॉ. शंभुनाथ का मानना है- 'आज सबसे अधिक अमीर और क्षमतावान वह है, जिसके पास ज्ञान और सूचना प्रौद्योगिकी पर सबसे अधिक कब्जा है। किसी समय जमींदार और सबसे अधिक पूंजी के मालिक क्षमतावान माने जाते थे। सूचना क्रांति ने परिदृश्य बदल दिया है। शिक्षा, चिकित्सा, व्यापार, मनोरंजन आदि सभी क्षेत्रों में सूचनाओं के वैश्विक अंधड़ ने ज्ञान क्रान्ति ला दी। इसमें हिस्सेदारी के बिना अब न सफल संभव है, न सफल चिकित्सा, न सफल व्यापार और न तुष्टिकरण मनोरंजन।' ('अब' शताब्दी अंक-पृ.59)

मीडिया के द्वारा हमारी सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में अपसंस्कृति का विकास हो रहा है। पूंजी एकत्र करने की होड़ में अमानवीय तरीके अपनाए जा रहे हैं। शक्ति और धन का बोलबाला है। 'समरथ को न हिं दोष गोसाईं' उक्ति चरितार्थ हो रही है। इन्हें कानून भी नजरअंदाज कर रहा है। सामाजिक सत्य को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया जा रहा है। कुछ इस प्रकार का वातावरण बन रहा है कि वैचारिक शुद्धता गायब होती जा रही है। तकनीकी सभ्यता के विकास से मानवीय संवेदना आहत हो रही है- उदय प्रकाश की दो कविताओं की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं-

इस सीरियल के खत्म हो जाने के बाद
थोड़ी सी शराब और कैसेट में

जो बाकी अन्त का बचा-खुचा संगीत है।
तकनीक ने छीना चरखा
काल ने छीना माँ
सभ्यता ले गई रस्सी, थाली और धोती
नींद के लिए बाकी था कल तक
किसी कोने में एक अंधेरा
उठा ले गया बाजार
थोड़ी-सी थी जो इज्जत ले गई गरीबी।

दसवें दशक के प्रारंभ में राजनीतिक एवं सामाजिक स्तर पर कई क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। मंडल-कमंडल की राजनीति ने सम्पूर्ण मानवजाति के समक्ष कई प्रश्नचिन्ह खड़े कर दिए। दलित और पिछड़ा वर्ग अपने अधिकारों की लड़ाई के लिए आक्रामक हो उठा। नारी अपनी अस्मिता, आर्थिक स्वालम्बन और राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए उठ खड़ी हुई। साम्प्रदायिकता और आतंकवाद के उग्र रूप प्रकट हुए। इस दौर के संपूर्ण परिदृश्य पर कुछ अच्छी कविताएँ लिखी गईं, जिनमें आलोकधन्वा की (ब्रूनो की बेटियाँ), कुमार अम्बुज, (क्रूरता), देवीप्रसाद मिश्र (मुसलमान), मंगलेश डबराल (घर का रास्ता), विनोद कुमार शुक्ल (जंगल के दिनभर के सन्नाटे में) आदि।

वस्तुतः 6 दिसम्बर 92 को बाबरी मस्जिद ध्वंस के बाद भारत में साम्प्रदायिकता एक घटना से विचार के रूप में बदल चुकी है। हिन्दू और मुस्लिम समुदायों में एक चेतना के स्तर पर इसका प्रसार हुआ। साम्प्रदायिक दंगों में नरसंहार का सिलसिला आज भी जारी है।

हत्याएँ
हर पल हत्याएँ
हर दिन हत्याएँ
कितनी और जाने कितनी हत्याएँ
अब तो आदत सी हो गई है सुनने की
यह नवजात के आने की खुशी है
कि याद आ रहे हैं दुःख।
पृष्ठ-18 (अकेला घर हुसैन का)

इस गुंडा समय में/ न मैं मंदिर में रहना चाहता हूँ न मस्जिद में/मैं एक रहने योग्य घर में रहते हुए/कहने योग्य बात करना चाहता हूँ/कि मैं धार्मिक नहीं मार्मिक संबंध हूँ/ मैं मनुष्य हूँ/आदमी हूँ/व्यक्ति हूँ/नागरिक हूँ/इस गुंडा समय में हुए बिना/क्या मैं यह सब हो सकता हूँ? अगर नही/तो फिर मैं नहीं हूँ/नहीं हूँ/नहीं हूँ/ (गुंडा समय : लीलाधर जगूड़ी. आलो. 2000)

साम्प्रदायिक उन्माद के इस दौर में नागार्जुन, केदार त्रिलोचन और केदारनाथ सिंह की लोकराग परम्परा में विनोद कुमार शुक्ल, अरूण कमल, ज्ञानेंद्रपति, मदन कश्यप, एकांत श्रीवास्तव, निलम उपाध्याय, पंकज चतुर्वेदी आदि ने लोकधर्मी संवेदना पर अच्छी कविताएँ लिखी हैं। कहीं-कहीं पर लोक और नगर की संस्कृति के द्वैत को स्पष्ट किया गया है। नगर में परिवर्तित होते गाँव के मूल स्वरूप से संबंधित इस दौर की कविताओं में अच्छे बिम्ब प्रस्तुत किए गए हैं।

अभी गाय हंकरी है
फड़फड़ करता तोता लोहे के पिंजरे में,
खांस रही है वृद्धा जब तब
तेज कदम हाँफता कोई जाता
धूल भरे रस्ते पर। (रात-नये इलाके में)
गांव से आया है माँ का पत्र
टेढ़े-मेढ़े अक्षर
सीधे-सादे शब्द
सब कुछ मंगल
मेरी कुशलता की कामना
पैसों की जरूरत नहीं
अच्छे से रहने की हिदायतें
और बाकी सब खैरियत। (माँ का पत्र-अन्न हैं मेरे शब्द)

इधर की कविता में लोकजीवन की कविता का व्यापक रूप से प्रचलन हुआ है। मदन कश्यप का काव्य संग्रह 'नीम रोशनी में' और नीलय उपाध्याय के 'कटौती' संग्रह की कविताओं को पढ़ते हुए लोकजीवन की कविता के लिए गहरी आस्था का आभास मिलता है। इन दोनों की काव्यभूमि का क्षेत्र बिहार का ठेठ ग्राम्याचंल है। युवा कवियों में बोधिसत्व के 'सिर्फ कवि नहीं' और 'हम जो नदियों का संगम हैं', प्रेमरंजन के 'मिट्टी का फल' और 'संजय कुन्दन' के 'कागज के प्रदेश में' आदि कवियों की कविताओं में लोकजीवन की कविता का एक नया ठाठ रचा गया है। राजेश जोशी का मानना है- 'आज की

कविता अपने रचाव बनाव में एक लोकतांत्रिक कविता है। इसमें नायक नहीं है, चरित है। आस-पास के जीवन के साधारण लोगबाग। यह हमारे समय की विडम्बना है कि कविता जब अपनी संरचना और स्वभाव में सबसे अधिक लोकतांत्रिक हुई है। राजनीति में लोकतांत्रिक मूल्यों का सबसे ज्यादा क्षरण हुआ है।'

(आलो. अप्रैल-जून 2000, पृ. 248)

सदी के अंतिम दिनों में दलित और नारी विमर्श की चर्चा कथा साहित्य में खूब हुई। विधागत अंतर के कारण कविता में इसकी अनुगूंज कम सुनाई दी। दरअसल ये दोनों विमर्श राजनीति और समाजशास्त्र से होकर साहित्य में आए। कथा की भूमि इसके लिए उर्वर साबित हुई। इधर की कविता में विनोद कुमार शुक्ल ने 'अतिरिक्त नहीं' संग्रह की कुछ कविताओं में आदिवासी जीवन की विसंगतियों को बड़ी मार्मिकता से व्यक्त किया है। यहीं पर वरिष्ठ कवि इब्बार रब्बी कविता में एक नया मुहावरा विकसित करते हुए विभिन्न भावबोधों की रचनाएं करते हैं। ये साधारण मनुष्य की साधारण जिन्दगी में अक्सर जीवन का साक्षात्कार कराते हैं और उसे कविता में लाकर एक अपूर्व पौरुष अथक श्रम-संघर्ष और श्रम सौंदर्य से भर देते हैं। 1997 में प्रकाशित ओम प्रकाश वाल्मीकी का 'बस्स! बहुत हो चुका' काव्य-संग्रह का शीर्षक ही दलित वर्ग की चुनौती का संकेत दे रहा है।

जब भी देखता हूँ मैं
झाड़ू या गन्दगी से भरी बाल्टी कनस्तर
किसी हाथ में
मेरी रंगों में
दहकने लगते हैं
यातनाओं के कई हजार वर्षके साथ
जो फैले हैं इस धरती पर
ठण्डे रेतकणों की तरह। (पृष्ठ-79)

सामाजिक वर्ण-व्यवस्था से आहत कवि 'जाति' शीर्षक कविता में लिखता है-

स्वीकार्य नहीं मुझे
जाना,
मृत्यु के बाद
तुम्हारे स्वर्ग में।
वहाँ भी तुम
पहचानोगे मुझे
मेरी जाति से ही !

मूलत: कथा साहित्य में और कुछ हद तक कविता में भी स्त्री-मुक्ति का जिम्मा महिला रचनाकारों ने खुद अपने हाथों में ले लिया है। सदियों से पीड़ित अब ये भी बस्स! बहुत हो चुका की चुनौती दे रही हैं। इसके सकारात्मक परिणाम भी आ रहे हैं। कात्यायनी, अनामिका, गगन गिल, तेजी ग्रोवर, चम्पावैद, नीलेश रघुवंशी, क्षमा कौल, संध्या गुप्ता, मिथिलेश श्रीवास्तव, प्रेमलतावर्मा, कीर्ति चौधरी, इन्दु जैन, निर्मला गर्ग, सविता सिंह, अर्चना वर्मा और मधु शर्मा जैसी कई अन्य महिला लेखिकाएँ काव्य लेखन के द्वारा नारी पीड़ा को अभिव्यक्ति दे रही हैं।

अर्चना वर्मा का उपलब्ध काव्य संग्रह 'लौटा है विजेता' की 'दिनचर्या' कविता में नारी जीवन की त्रासदी को बड़ी मार्मिकता से व्यक्त किया गया है-

आज भी उसने
थकी हारी देह को
स्वागत में सजाया
आज भी
इस दैनिक धिक्कार पर
कर्त्तव्य और अधिकार
और-प्यार का
ठप्पा लगाया
फिर एक बार बचाया
भूकंप से अपना संसार
आज भी उसने नहीं पूछा
आखिर कहाँ है अंत
और सुहाग के अभिमान से
भर-आई।

आजादी के पूर्व तीन-चार महिला कवियों ने पुरुषवादी समाज में बड़ी मुश्किल से जगह बनाई थी। आज भी कविमंचों पर उन्हें कुछ अलग दृष्टि से देखा जाता है। नारी पीड़ा को जहाँ कई महिला रचनाकारों ने स्वर दिया, उनमें कात्यायनी का भी विशिष्ट स्थान है।

जीवन
दु:ख का सागर है
दु:ख का सागर
एक महाकाव्य है
महाकाव्य जीवन है
जीवन
दु:ख का सागर है। (सात भाइयों के बीच चम्पा)

'देह न होना' शीर्षक कविता में वे लिखती हैं-

देह नहीं होती है, एक दिन स्त्री
और उलट पुलट जाती है,
सारी दुनिया
अचानक

सदी के उत्तरार्द्ध में दलित और नारी विमर्श चर्चा, साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं के केन्द्र में रहा। कई राष्ट्रीय संगोष्ठियों और परिसंवादों के आयोजन किए गए। यहाँ तक कि रचनाकारों एवं पत्रिकाओं के अलग-अलग खेमे भी बन गए। राजनीतिक हलकों में नारी आरक्षण पर बहसों का सिलसिला भी शुरू हो गया, लेकिन कोई सकारात्मक परिणाम नहीं निकला। वस्तुत: हमारे जटिल और बद्धमूल समाज को तोड़ने के लिए दलित एवं नारी वर्ग को एक लंबा रास्ता तय करना पड़ेगा। अब इन्हें अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी पड़ेगी। जैसा कि मैंने पहले ही संकेत किया है कि कथा लेखन में इसकी शुरूआत अच्छी हुई है। कविता में भी हो रही है। वैसे कविता के क्षेत्र में छायावाद, प्रगतिवाद, नई कविता और समकालीन कविता के कवियों ने अपनी-अपनी कविताओं में नारी एवं दलित जीवन के विविध चित्र प्रस्तुत किए हैं।

अंतिम दशक की हिंदी कविता को विचारों के धरातल पर किसी आंदोलन से नहीं जोड़ा जा सकता, जबकि उस समय का धार्मिक उन्माद हमें भक्तिकाल के आंदोलन की याद दिलाता है। इस समय की कविता का परिदृश्य व्यापक एवं गहन है, जो कि बुनियादी अनुभवों से निकली हुई जान पड़ती है। सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक आग्रह भी कविता में विद्यमान हैं, लेकिन मुखर नहीं है।

इसका कारण सम्प्रेषणीयता का अभाव भी हो सकता है। कई कवियों की रचनाओं में समानता और कहीं-कहीं एकरूपता भी है। यहाँ लगता है कि उनके अनुभव की भूमि कुछ कच्ची एवं संकुचित है। इस दशक की कविता बहुआयामी परिदृश्य को व्यक्त करती है। कुछ कवियों की रचनाओं में सादगी, आत्मविश्वास, दृढ़ता, संयम और धैर्य के दर्शन होते हैं तो कुछ में दुर्बोधता, विरोध और प्रतिकार के भाव भी झलकते हैं।

भूमंडलीकरण, बाजारवाद, सूचना प्रौद्योगिकी, साम्प्रदायिकता, उन्माद एवं आतंकवाद पर अच्छी कविताएँ लिखी गई हैं, लेकिन हिंदी कविता का एक बड़ा हिस्सा घर-परिवार, खेत-खलिहान, नदी-नालों, निजी रिश्तों, प्रेम-प्रसंगों, नगरी संस्कृति और प्रकृति के नाना रूपों को भी समेटता है। फिर भी मुझे लगता है कि वैचारिकता एवं बिंब विधायनी भाषा की अधिकता के कारण कविता के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगा रहा है, और उसकी पठनीयता एवं संप्रेषणीयता भी बाधित हो रही है। कविता और गद्य का अंतर लगभग समाप्त हो गया है। यह एक विचारणीय मुद्दा है कि यह कहाँ तक वांछित है।

संदर्भ-सूची

1. गगनांचल - 99 अंक 2
2. आलोचना - अप्रैल-जून 2002, जनवरी-मार्च 2001
3. बहुवचन - प्रवेशांक
4. कसौटी - 8
5. अब- शताब्दी अंक 2000-01
6. वर्तमान साहित्य - मई-जून 2000
7. सदी के अंत में कविता - सं. विजय कुमार
8. कविता का अर्थात् - परमानंद श्रीवास्तव
9. नई सहस्राब्दी - हरिकृष्ण निगम
10. कविता की संगत - विजय कुमार
11. समय का विवेक - प्रभाकर श्रोत्रिय
12. समकालीन कविता का परिदृश्य-वेदप्रकाश अमिताभ
13. नवें दशक की कविता यात्रा-सं. दर्शन सेठी, प्रताप सहगल
14. शताब्दी की कविता - नंद किशोर नवल
15. कविता और समय - अरूण कमल